शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जून : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : २

तेरे जीवन में अतीन्द्रिय आनन्द की

उषा प्रगट होगी

जीव अनादि से शुभाशुभराग के आधीन हो रहा है; संत उसे राग से भिन्न उसके स्वाधीन स्वरूप की पहिचान कराते हैं कि—अरे जीव! 'मैं पर का कार्य करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है'—ऐसी पराधीनता से रहित कोई एक भी दिन है या नहीं?—एक क्षण भी है या नहीं? एक दिन तो पराधीनता से रहित होकर व्यतीत कर! अरे, एक क्षण तो पर के साथ का सम्बन्ध तोड़कर तथा स्वभाव के साथ सम्बन्ध जोड़कर स्वाधीन हो!—ऐसी स्वाधीनता से तेरे जीवन में अतीन्द्रिय आनन्द की उषा प्रगट होगी; उसके बिना कभी सुख या शांति का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसी स्वाधीनता का एक क्षण तो जीवन में ला।

वार्षिक मूल्य तीन रुपया

ए.[१९४] विशेषांक

एक अंक चार आना

श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

समाचार

सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी सुख शांति में विराज रहे हैं—आपके प्रवचनों में सवेरे प्रवचनसारजी, तथा दोपहर में अष्टपाहुड़ चारित्रपाहुड़ पढ़ा जाता है। वैशाख वदी (जेष्ठ वदी) ६ श्री समवसरण की वर्षगाँठ का उत्सव उल्लास पूर्वक मनाया गया, समवसरण मंदिर के शिखर ऊपर ध्वजारोहण विधि तथा मंदिरजी में सामूहिक पूजन हुआ था, सभा में प्रवचन के बाद भगवान की विशाल रथयात्रा सहित वन में जाकर जिनेन्द्र अभिषेक, पूजन, भक्ति का खास कार्यक्रम था।

वदी ८ श्री समयसारजी शास्त्र की सथापना का वार्षिक उत्सव था। शास्त्रजी को पालखी में विराजमान करके जुलूस निकाला, जयनाद, भक्ति भजन सहित सुवर्णपुरी में घूमकर जयजयकार नाद करते हुए स्वाध्याय मन्दिर में आकर सभी मुमुक्षुओं द्वारा शास्त्रजी का पूजन—भक्ति किया था।

जैनदर्शन शिक्षणवर्ग में इस साल १८० शिक्षार्थी आये थे चार विभाग करके अभ्यास कराया गया, जैनतत्त्व मीमांसा, जैनसिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला, लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, छहढाला, द्रव्यसंग्रह पाठ्य पुस्तक में थे। उत्तर भारत के बहुत भाइयों ने यह लाभ लिया।

ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा

श्री चिमनलाल ताराचन्द (सोनगढ़), श्री दशरथलाल जैन हैडमास्टर (सिवनी, म०प्र०), श्री नेमीचन्द मेहता-नरसिंगपुरा (उदयपुर) उन तीनों भाइयों ने अपनी धर्मपत्नी सहित सजोड़े पू० कानजीस्वामी के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य प्रतिज्ञा अंगीकार की, धन्यवाद।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

卐 : संपादक : रामजी माणेकचंद दोशी वकील 卐

जून : १९६१ ☆ वर्ष सत्रहवाँ, ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४८७ ☆ अंक : २

अनंत शक्ति सम्पन्न चैतन्यधाम

उसे पहिचानकर उसकी सन्मुखता करो!

चैतन्य में अपार शक्ति है, उसकी अनंत शक्तिसम्पन्न अचिन्त्य महिमा है; उसकी शक्तियों को जाने तो उसकी महिमा आये और जिसकी महिमा आये उसमें उन्मुखता हुए बिना न रहे। इसप्रकार स्वोन्मुखता होने से अपूर्व सुख-शांति और धर्म होता है। ऐसी स्वोन्मुखता कराने के लिये आचार्य भगवान ने चैतन्यशक्ति का अद्‌भुत वर्णन किया है। उस पर पूज्य गुरुदेव के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों का कुछ दोहन गतांक में दिया जा चुका है, तत्पश्चात् विशेष यहाँ दिया जा रहा है।

❀ अनंत शक्ति से परिपूर्ण चैतन्यतत्त्व है; उसकी ओर उन्मुख होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय की अभेदता सहित चैतन्यतत्त्व को 'समयसार' कहते हैं। ऐसी दशायुक्त आत्मा का जीवन ही सच्चा जीवत्व है। ऐसा जीवत्व जिसने जाना, उसने सच्चा जीवन-संशोधन किया, वह धर्मी हुआ, उसका जीवन सुखी हुआ।

❀ भाई, तेरे सुखी जीवन का कारण तेरी चैतन्यशक्ति ही है, अन्य कोई कारण नहीं है। देखो, यह सम्यग्दर्शन की पद्धति कही जा रही है। ४७ शक्तियों के वर्णन द्वारा जो चैतन्यपिंड बतलाया, उसके सन्मुख होने से सम्यग्दर्शनादि प्रगट होकर घातिकर्मों की ४७ प्रकृतियों का क्षय करके जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है; वह सर्वज्ञ होता है; सर्वदर्शी होता है; परमसुखी होता है; अनंतवीर्यसम्पन्न होता है; परम स्वतंत्र प्रभुता से वह शोभायमान हो उठता है और वही सादि-अनंत

निश्चय जीवन परम आनन्दसहित जीता है। सम्यग्दर्शनरहित जीवन को ज्ञानी सच्चा जीवन नहीं कहते, वह तो दु:खमय जीवन है; उसमें चैतन्य की दशा का घात होता है; ऐसे जीवन को जीवन कैसे कहा जा सकता है ?

❀ अहा ! चैतन्य सागर में कैसे-कैसे रत्न पड़े हैं तथा कैसे-कैसे निधान भरे हैं, उसकी अज्ञानियों को खबर नहीं है। जिस चैतन्यनिधान को लक्ष्य में लेते ही अनुकूल सुख का अनुभव हो—ऐसे निधान अपने में हैं; उनकी प्रतीति करना ही सम्यग्दर्शन की पद्धति है। चैतन्य की एक ज्ञानशक्ति के गर्भ में सर्वज्ञता व्यक्त होने की सामर्थ्य है। उस शक्ति का विश्वास कौन करता है ? जिसे राग की अधिकता भासित हो, उसे चैतन्य की शक्ति का विश्वास नहीं है। राग को तोड़कर सर्वज्ञता को प्राप्त करे—ऐसी चैतन्य की शक्ति है। उस शक्ति से भिन्न रहकर उसकी प्रतीति नहीं हो सकती, किन्तु उसकी स्वोन्मुखता से, उसमें तन्मयता से उसकी सम्यक् प्रतीति होती है। यही सम्यग्दर्शन है, यही सुख का एवं सत्य जीवन का उपाय है।

❀ इन्द्रियों से जो लाभ मानता है, जड़ इन्द्रियों को ज्ञान का साधन मानता है, अथवा इन्द्रियविषयों में सुख मानता है, वह मूढ़ जीव, जड़ के आधीन अपना जीवन मान रहा है; जड़ से भिन्न अपने अतीन्द्रिय-चैतन्यजीवन को वह नहीं जानता; इसलिये वह तो जड़-जीवन जीता है। चिदानन्दस्वभाव की ओर उन्मुख होकर ज्ञानी ने इन्द्रियों का अवलम्बन तोड़ दिया है; इसलिये जड़-जीवन को उड़ा दिया है और चैतन्य का आनन्दमय जीवन प्राप्त कर लिया है।

❀ संसार के जीव सुख के लिये झूरते हैं कि—किसीप्रकार सुख की प्राप्ति हो ! कहीं से सुख मिले—ऐसा सभी जीव चाहते हैं। आचार्य प्रभु कहते हैं कि—हे जीवों ! तुम्हारी आत्मा में ही सुखशक्ति भरी हुई है; उसकी सन्मुखता करोगे तो उसी में से सुख प्राप्त होगा... इसके अतिरिक्त जगत में अन्य किसी प्रकार सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्या आत्मा में सुख नहीं है जो तुम बाहर ढूँढ़ते हो ? बाह्य में तो अपना सुख ढूँढ़ना तो पराधीनता है... पराधीनता में तो दु:ख होता है, सुख नहीं होता। अपने स्वभाव में ही सुख है और स्वभावोन्मुख होने पर स्व-आधीनता से सुख प्रगट होता है; उस सुख में जगत के अन्य किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती... आत्मा स्वभाव से ही स्वयंसिद्ध है। जिसप्रकार उसमें बाह्य पदार्थों की अपेक्षा या सहायता नहीं है, उसीप्रकार उसमें कोई विघ्न-बाधा भी नहीं डाल सकता। इसप्रकार सुख स्वाधीन है।

❀ आत्मा विशुद्ध-ज्ञानस्वरूप है; वह परद्रव्यों से कोई लाभ ले, या पर को लाभ दे—ऐसा

उसका स्वरूप नहीं है। इसलिये पर में किंचित् भी सुख है, यह मान्यता ही भूलयुक्त है; और पर की ओर झुकने से परोन्मुखता से जो राग-द्वेष की वृत्तियाँ होती हैं, वे भी आकुलतामय हैं, उनमें भी सुख नहीं है। सुख है कहाँ? तो कहते हैं कि भाई! अंतरतत्त्व के निधान में ही तेरा सुख और आनन्द भरा है; उस ओर उन्मुख होने से आत्मा स्वयं सुखरूप परिणमित हो जाता है। स्वयं-स्वयमेव छह कारकरूप होकर सुखरूप परिणमित हो जाता है; उसे अन्य किसी की अपेक्षा नहीं है। भाई, अंतर में झाँककर अपनी आत्मा का मंथन तो कर; तेरा सुखस्वभाव अंतर में है; उसका शोधन तो कर। उसमें तुझे किसी अपूर्व सुख एवं अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा। ऐसा आनन्द का अनुभव हो, उसे जिनेश्वर भगवान जैनधर्म कहते हैं।

❀ भगवान कहते हैं कि—अरे जीव! हम तुझसे ही तेरा मूल्यांकन कराते हैं। तेरा मूल्य कितना अपार है, उसकी तुझे प्रतीति नहीं है.... तुझमें ऐसा अपार अंचित्य सामर्थ्य है कि एक क्षण में समस्त विश्व को ज्ञान में ज्ञेयरूप से पी ले... और सारे जगत से निरपेक्ष रहकर स्वयं अपने परम आनन्द का अनुभव करे। जिस आनन्द के एक कण के समक्ष सारे जगत का वैभव तुच्छ भासित हो—ऐसा आनन्द तुझमें भरा है। ऐसी तेरे आत्मा की महिमा अथवा मूल्य है। उसे भूलकर तू राग से और शरीर की क्रिया से अपना मूल्य-महिमा मानता है और वही मान्यता तुझे संसार में भटकाती है। तेरे आत्मा की महिमा अरिहंतों और सिद्धों से किंचित् न्यून नहीं है। जो इस आत्मा के और अरिहंतों के स्वभाव में किंचित् फेरफार मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है—आत्मघाती है। जिसका जितना मूल्य हो, उतना ही आँके, तो उसका यथार्थ ज्ञान एवं सम्मान किया कहा जाता है। उसने करोड़पति मनुष्य को निधन या हजारों की सम्पत्ति वाला माने तो उसने करोड़पति को नहीं जाना, उसका सम्मान नहीं किया, किन्तु अपमान ही किया है। उसीप्रकार आत्मा कैवल्यपति, सर्वज्ञस्वभाव, आनन्दनिधान से भरपूर है, उसे जो अल्पज्ञ और रागी समझे, तथा पर में उसका सुख माने, वह वास्तव में आत्मा को नहीं जानता है। वह आत्मा का सम्मान नहीं करता किन्तु अपमान करता है। बड़े राजा को कोई भिखारी माने तो वह राजा का घोर अपमान है और उसकी सजा जेल है; उसीप्रकार महिमावंत चैतन्य राजा को पर से सुख की भीख माँगनेवाला मानना, उसमें चैतन्य महाराजा का घोर अपमान है और उसकी सजा संसाररूपी जेल है। भाई, यदि तुझे इस संसाररूपी जेल से छूटना हो तो अपने चैतन्य राजा को भलीभाँति जानकर उसका सम्मान कर! संत पुकार-पुकार कर तुझे तेरी प्रभुता बतला रहे हैं, उसे पहिचान। अपनी प्रभुता को पहिचानकर तू प्रभु हो जायेगा।

❀ जो जीव, राग से लाभ मानता है, वह चैतन्य की अपेक्षा राजा को महत्ता देता है; यानी अपने चैतन्य की प्रभुता को ठुकराकर पामरता का आदर करता है और पामररूप से परिभ्रमण करता है। यहाँ संत उसे करुणापूर्वक समझाते हैं कि अरे जीव! तेरा चैतन्यतत्त्व स्वतंत्ररूप से शोभायमान हो उठे—ऐसी तेरी प्रभुता है; उसी में तेरा सम्यक्त्व और शांति है; अन्यत्र कहीं ढूँढ़ने से उसकी प्राप्ति नहीं होगी। अपने सम्यक्त्व की, केवलज्ञान की तथा परम आनन्द की रचना स्वतन्त्ररूप से करे, ऐसी तेरी प्रभुता की सामर्थ्य है... अपने उस प्रभुत्व को देख!

❀ **'धर्म का मूल सर्वज्ञ है'—आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव है, उसकी प्रतीति करके निर्विकल्प धारा से केवलज्ञान प्रगट करके जो सर्वज्ञ हुए, उनकी वाणी में धर्म के स्वरूप का उपदेश प्रवाहित हुआ। इसप्रकार भगवान सर्वज्ञदेव धर्म के प्रणेता हैं। जिसने ऐसे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं किया, उसे धर्म नहीं होता। सर्वज्ञ का निर्णय करनेवाले को अपने आत्मा में भरी हुई सर्वज्ञशक्ति का निर्णय हो जाता है।**

❀ निज आत्मा में सर्वज्ञशक्ति का इस काल, इस क्षेत्र में भी अनुभव हो सकता है। इस क्षेत्र में और इस काल में परिणमित सर्वज्ञ का विरह है, परन्तु सर्वज्ञशक्ति तो इस समय भी आत्मा में पड़ी है। और आत्मा की सर्वज्ञशक्ति की जो प्रतीति करे, उसे व्यक्त सर्वज्ञ परमात्मा की प्रतीति भी होती ही है।

❀ कोई नास्तिक ऐसा कहे कि—'सर्वज्ञ नहीं है'—तो आचार्य उससे पूछते हैं कि हे भाई! सर्वज्ञ कहाँ नहीं हैं?—इस काल में और इस क्षेत्र में ही सर्वज्ञ नहीं हैं, या सर्व काल में और सर्व क्षेत्र में भी सर्वज्ञ का अभाव है?

यदि तू ऐसा कहता है कि—'इस काल में और इस क्षेत्र में ही सर्वज्ञ नहीं हैं'—तो उसमें ऐसा आ ही गया कि इसके अतिरिक्त अन्य काल में तथा अन्य क्षेत्र में सर्वज्ञ हैं।

और यदि तू ऐसा कहता है कि सर्व काल में और सर्व क्षेत्र में सर्वज्ञ का अभाव है—तो हम तुझसे पूछते हैं कि क्या तूने सर्व काल और सर्व क्षेत्र को जाना है? यदि जाना है, तब तो तू ही सर्वज्ञ हुआ! (इसलिये 'सर्वज्ञ नहीं हैं'—ऐसा तेरा वचन 'मेरी माता बंध्या है'—इसके समान स्ववचन बाधित हुआ।) यदि तू कहे कि—'सर्व क्षेत्र और सर्व काल को जाने बिना मैं सर्वज्ञ का निषेध करता हूँ'—तो वह भी योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसे दूसरे क्षेत्र (विदेहक्षेत्र) हैं, जहाँ सर्वज्ञ भगवंत सदा विराजमान हैं, उन्हें जाने बिना सर्वज्ञ का निषेध तू कैसे कर सकता है? तू न जानता हो, ऐसे

क्षेत्र में सर्वज्ञ भगवंत विराजमान हैं। और हे मूढ़! यदि सर्वज्ञ न हों तो सूक्ष्म दूरवर्ती एवं अतीन्द्रिय पदार्थों को कौन जानेगा? सर्वज्ञ का अभाव मानने से अतीन्द्रिय पदार्थों का भी अभाव हो जायेगा। राग घटते-घटते उसका नितांत अभाव भी हो सकता है और ज्ञान बढ़ते-बढ़ते वह पूर्णता को प्राप्त हो सकता है। धर्मात्मा को स्वसंवेदन से अपने श्रद्धा-ज्ञान में सर्वज्ञस्वभाव का निर्णय हो गया है। स्वसंवेदन से निज आत्मा में सर्वज्ञशक्ति का अनुभव इस काल में तथा इस क्षेत्र में भी हो सकता है। जिसने ऐसा अनुभव किया, उस ज्ञान में सर्वज्ञ का सद्भाव और धर्म का प्रारंभ हुआ। इसप्रकार अंतर में सर्वज्ञस्वभाव, वह धर्म का मूल है।

परमानन्द के पिपासु जीव को संत

चैतन्य का अध्यात्मरस पिलाते हैं।

यह 'प्रवचनसार' की ७२वीं गाथा है। इस प्रवचनसार के रचयिता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव हैं। उनके सम्बन्ध में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कहते हैं—उनको भवसमुद्र का किनारा अत्यन्त निकट आ गया है, अल्प काल में ही वे भव का अन्त करके मोक्ष प्राप्त करनेवाले हैं। ऐसे भवछेदक पुरुष की वाणी भी भवछेदक है; यह वाणी भव को छेदने का उपाय बतलाती है।

ज्ञानानन्दस्वभाव को नमस्कार करके, तथा अनेकान्तमय वाणी को नमस्कार करके प्रवचनसार का प्रारम्भ करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि—परमानन्दरूपी सुधारक के पिपासु भव्य जीवों के लिये यह प्रवचनसार की टीका रची जा रही है। जिसे चैतन्य के परम आनन्द की ही पिपासा है, जगत की अन्य कोई उलझन जिनके अंतर में नहीं है, अरे! हमारे चैतन्य का अमृत हमारे अंतर में ही है—इसप्रकार जिनकी जिज्ञासा आत्मोन्मुख हुई है, ऐसे भव्य जीवों के आनन्द के हेतु—हित के लिये यह टीका रची जा रही है। देखो, यह श्रोता का उत्तरदायित्व बतलाया। श्रोता

कैसा है ? कि चैतन्य के परमानन्दरूपी अमृत का ही पिपासु है; इसके अतिरिक्त संसार की किसी वस्तु का—मान-सम्मान का, लक्ष्मी का, पुण्य का, अथवा रागादि का पिपासु जो नहीं है, ऐसे जिज्ञासु श्रोता के लिये यह 'तत्त्वप्रदीपिका' रची जा रही है। तिरते हुए पुरुष की यह वाणी भवछेदक है।

'काम एक आत्मार्थ का, अन्य नहीं मन रोग।'

—जिनके अंतर में एक आत्मार्थ साधने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं है, आत्मा को साधने की ही इच्छा है, ऐसे आत्मार्थी जीवों के लिये आचार्य भगवान इस शास्त्र की रचना करते हैं। इस शास्त्र द्वारा आचार्यदेव परमानन्द के पिपासु भव्य जीवों को यथार्थ तत्त्व का स्वरूप समझाते हैं; ज्ञान और ज्ञेयतत्त्वों का यथार्थ स्वरूप समझने से भेदज्ञान-ज्योति प्रगट होती है और जीव परमानन्द को प्राप्त करता है।

इतने उपोद्घात के पश्चात् अब मूल अधिकार प्रारम्भ होता है।

जगत के छह द्रव्यों में यह आत्मा ज्ञान तत्त्व है। आत्मा विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभावी है, उसके स्वभाव में ही वास्तविक सुख है; इसके अतिरिक्त शुभ या अशुभ परिणामें में वास्तविक सुख नहीं है। परमानन्दरूपी जो ज्ञानतत्त्व है, उसमें शुभ या अशुभ परिणामों का अभाव है। फिर अज्ञानी के शुभ हों या ज्ञानी के हों, किन्तु उन शुभपरिणामों में किंचित् सुख या मोक्षमार्ग नहीं है। चौथे गुणस्थान से मोक्षमार्ग का प्रारम्भ हुआ है, तथापि जो शुभोपयोग है, वह कहीं मोक्षमार्ग नहीं है। जो रागरहित शुद्धता प्रगट हुई, उसी में मोक्षमार्ग है। इसके अतिरिक्त अशुभ या शुभ (सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि) उन दोनों में दुःख का साधनपना समान है। जिसप्रकार पाप को उत्पन्न करनेवाला अशुभ उपयोग दुःख का ही कारण है, उसीप्रकार पुण्य को उत्पन्न करनेवाला शुभ उपयोग भी उस अशुभ उपयोग की भाँति ही दुःख का साधन है।—ऐसा इस ७२वीं गाथा में समझाते हैं।

किसे समझाते हैं ? कि जो जीव चैतन्य के परम आनन्द का पिपासु है उसे—

णरणारयतिरियसुरा भजंति देह संभवं दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं॥७२॥

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे जीव! तू विचार तो सही कि यदि शुभ और अशुभ दोनों में लगे हुए जीव दुःख ही प्राप्त करते हैं तो उन दोनों में क्या अंतर है ? दोनों में सुख का अभाव है; दोनों आत्मा शुद्धोपयोग से विलक्षण हैं, दोनों अशुद्ध हैं, स्वाभाविक सुख तो शुद्धोपयोग में ही है। जिसे

राग में—पुण्य में—शुभ में सुख भासित होता हो, वह जीव सचमुच परमानन्द का पिपासु नहीं है। सम्यग्दर्शन से प्राप्त होनेवाला जो परमसुख है, उसकी उसे प्रतीति नहीं है। शुभ के फलस्वरूप जो पुण्य है, उसी में तल्लीन रहकर जो अपने को सुखी मानते हैं, ऐसे जीवों को चैतन्य के परमानन्द की प्रतीति नहीं है; चैतन्य के परमानन्द को भूलकर जो कायरता से इन्द्रियविषयों में लीन रहते हैं, वे दु:ख में ही पड़े हैं। नरक का नारकी या स्वर्ग का देव—यह दोनों जीव, इन्द्रिय-विषयों से ही दु:खी हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि:—

लक्ष्मी अने अधिकार वधतां शुं वध्युं ते तो कहो?
शुं कुटुम्ब के परिवारथी वधवापणुं अे नय ग्रहो?
वधवापणुं संसारनुं नर देह ने हारी जवो,
अेनो विचार नहीं अहो हो, एक पल तमने हवो!

अरे जीव! लक्ष्मी आदि के बढ़ जाने से उसमें आत्मा का क्या बढ़ा? उसमें आत्मा को क्या सुख मिला?—उससे आत्मा की कोई अधिकता नहीं है। आत्मा की अधिकता तो ज्ञानस्वभाव से ही है। ज्ञानस्वभाव द्वारा अधिक ऐसे आत्मा को जान, तो तेरे भव का छेदन हो जाये। भाई! ऐसा मनुष्य भव प्राप्त हुआ, उसमें यदि तूने भव को छेदने का उपाय नहीं किया, तो फिर किया क्या? यह भव तो भवच्छेद के लिये ही प्राप्त हुआ है; चार गति के दु:खों का अभाव करने के लिये ही यह अवतार मिला है; इसलिये परमानन्द का पिपासु होकर तू भव को छेदने का उपाय कर।

ज्ञानी अथवा परमानन्द का पिपासु जीव ऐसा जानता है कि मेरे विशुद्ध चैतन्यस्वभाव में शुभ या अशुभ नहीं है, मेरे अतीन्द्रिय आनन्द-स्वभाव में इन्द्रियविषयों का अभाव है। इसप्रकार ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर जिसने द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों तथा उनके विषयों से भिन्न अपने ज्ञानस्वभाव का अनुभव किया, वह जीव जितेन्द्रिय है, वह जिनेन्द्रदेव का सच्चा भक्त है; वह जीव आत्मा के परम आनन्द का अनुभव करनेवाला है।

धर्मात्मा की अनुभवदशा का वर्णन और उसका उपाय

[राजकोट में समयसार, गाथा १४२-४३-४४ पर पूज्य गुरुदेव के जो महत्वपूर्ण प्रवचन हुए थे, उनका सार]

[अंक १९३ से आगे]

जो जीव आत्मा का सच्चा जिज्ञासु होकर उसके अनुभव का प्रयत्न करता रहता है, उसे क्या होता है तथा वह किसप्रकार स्वानुभव में पहुँचता है, तत्सम्बन्धी सुन्दर विवेचन इस प्रवचन में गुरुदेव ने किया है—जो जिज्ञासुओं को लाभदायी सिद्ध होगा।

(१७) जो जीव आत्मा का सच्चा जिज्ञासु होकर अपने अनुभव का निरन्तर प्रयत्न करता है उसकी यह बात है। अंतरोन्मुख होने से पूर्व अनेक प्रकार के विकल्पों का जाल आता है। पर का कुछ करूँ—ऐसी तो यह बात नहीं है; अशुभ विकल्पों की भी बात नहीं है; शुभ विकल्पों में भी यह बाह्य विकल्पों की बात नहीं है। अंतरोन्मुख होने के लिये 'मैं ज्ञान हूँ, मैं नित्य हूँ' इत्यादि जो विकल्प उठते हैं, उनके जाल में जब तक उलझा रहे, तब तक स्वानुभव में नहीं पहुँचा जाता। जब उन विकल्पों से निकलकर ज्ञानभाव में पहुँचता है, तब वह जाल आपने आप हट जाता है। बाह्य से हटकर अंतरोन्मुख होने में ऐसा विकल्पों का काल आता है, किन्तु ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य उसे लाँघकर स्वानुभव में पहुँचते हैं।

(१८) जो विकल्प बीच में आते हैं, उन्हें साधन मानकर अटक जाये, उनके वेदन में शांति भासित हो, तो उसके लिये यह विकल्पों का ही काल है, उसे स्वानुभव का काल नहीं आता। किन्तु जो आत्मार्थी है, उसे तो विकल्पों के काल में भी ज्ञानस्वभाव का लक्ष्य साथ ही वर्तता है, इसलिये अकेले विकल्पों का ही काल नहीं है, विकल्पों का ही अवलम्बन नहीं है, किन्तु श्रद्धा में अतीन्द्रिय ज्ञानस्वभाव का अवलम्बन होने से वह विकल्पों को लाँघकर अपूर्व स्वानुभव का अवसर प्राप्त करता है; चैतन्य के शांत सरोवर में जाकर विकल्पों की आकुलता का आतप शांत करता है। चैतन्य

की ऐसी अनुभूति में अकेले अतीन्द्रिय शांतरस का ही वेदन होता है; वहाँ विकल्पों की विषमता का वेदन नहीं होता।

(१९) चैतन्य की स्फुरणा होते ही अर्थात् अंतर्मुख होकर जहाँ चैतन्य को लक्ष्य में लिया वहीं समस्त विकल्पों का इन्द्रजाल दूर हो जाता है। जिसप्रकार सिंह की आहट मिलते ही हिरन दूर भाग जाते हैं, उसीप्रकार अंतर्मुख ज्ञान में जहाँ चिदानन्द तत्त्व का स्फुरणा हुआ कि तुरन्त समस्त विकल्प विलय को प्राप्त होते हैं।

(२०) 'मैं ज्ञान हूँ; एक हूँ; अनेक हूँ; नित्य हूँ; अनित्य हूँ'—इसप्रकार स्वतत्त्व सम्बन्धी विकल्पों में रुकना भी स्वानुभव में बाधक है; तो फिर 'पर का करूँ'—ऐसे बाह्य में झुकते हुए विकल्पों में अटकनेवाले की तो बात ही क्या? वह तो स्वानुभव से बहुत-बहुत दूर है। जो सच्चा आकांक्षी है, सच्चा रंगी है, वह जीव ऐसे दुर्विकल्पों में तो नहीं अटकता और स्वानुभव से पूर्व बीच में आनेवाले भेद-विकल्पों में भी वह नहीं रुकना चाहता; उन्हें भी पार करके स्वानुभव में ही पहुँचना चाहता है। किसप्रकार स्वानुभव में पहुँचता है, वह बात आचार्यदेव ने १४४वीं गाथा में बड़े ही अलौकिक ढँग से समझाई है।

(२१) ज्ञानस्वभाव की ओर ढलते-ढलते, जबतक साक्षात ज्ञान में नहीं आया, तब तक बीच में ऐसे विकल्पों का जाल आयेगा। उसे बतलाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—तू उस विकल्प जाल में उलझ मत जाना; किन्तु ज्ञान को पृथक् करके, उसे लाँघते हुए ज्ञान को अंतर में ले जाना। ऐसा करने से तुझे निर्विकल्प स्वानुभव के अपूर्व आनन्द का अनुभव होगा।

(२२) अहा, दृष्टि बदलने से सब कुछ बदल जाता है। उपयोग का लक्ष्य बाह्य में अटक जाने से संसार भ्रमण हो रहा है; उसे अंतरोन्मुख करने पर संसार का अंत और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

उपजे मोहविकल्पथी, समस्त आ संसार;
अंतर्मुख अवलोकताँ, विलय थताँ नहि वार।

(२३) मूल वस्तुस्वभाव क्या है—उसके अंतर्मुखी निर्णय के बिना विकल्पों से भिन्नता नहीं हो सकती। जो जीव ज्ञानस्वभाव में अंतर्मुख हुआ और विकल्पों से दूर हट गया, उसे भले ही बाद में अमुक प्रकार के विकल्प हों, तथापि उनके ग्रहण का उत्साह नहीं रहता, उनके अवलम्बन की बुद्धि नहीं रहती; उसका उत्साह तो चैतन्योन्मुख ही हो गया है। बुद्धि में अर्थात् भावश्रुतज्ञान में

एकमात्र चैतन्यस्वभाव का ही अवलम्बन है। ऐसा सम्यक्त्वी धर्मात्मा नयपक्ष में अतिक्रान्त हुआ शुद्ध आत्मा है; वही 'समयसार' है।

(२४) अहा! निर्विकल्प अनुभव के समय सम्यक्त्वी धर्मात्मा कैसा होता है?—उसकी तुलना आचार्यदेव ने केवलज्ञानी भगवान के साथ करके यह बात अलौकिक ढंग से समझाई है। जिन जीवों को सम्यग्दर्शन होता है, उन सबकी ऐसी ही दशा होती है।

(२५) जिसप्रकार केवली परमात्मा नयों के पक्ष से पार हैं, उसीप्रकार अनुभवदशा में सम्यक्त्वी भी नयपक्ष से पार हैं—यह बात आचार्यदेव ने केवली भगवान के दृष्टान्त में स्पष्ट समझाई है—

❀ जिसप्रकार केवली भगवान विश्व के साक्षीपने के कारण नयपक्ष के स्वरूप के भी साक्षी ही हैं—ज्ञाता ही हैं; उसीप्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा भी नयपक्ष के विकल्पों के ग्रहण का उत्साह छूट जाने से... अर्थात् चैतन्य की ओर ही उत्साह ढल जाने से वह भी नयपक्ष के विकल्पों का साक्षी ही है—ज्ञाता ही है। उनसे पृथक् होकर उनका अकर्ता हो गया, इसलिये साक्षी ही रहा।

❀ केवली भगवान सकल विमल केवलज्ञान द्वारा विज्ञानघन हो गये हैं, उनमें नयपक्ष के विकल्पों का प्रवेश नहीं है; उसीप्रकार सम्यक्त्वी धर्मात्मा भी भावश्रुत को अंतर्मुख करके, तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि से चैतन्यस्वभाव को ग्रहण करके उसी में प्रतिबद्ध हुए हैं, अर्थात् चैतन्य के अनुभव द्वारा विज्ञानघन हुए हैं, इसलिये उनके अनुभव में भी नयपक्ष के विकल्पों का प्रवेश नहीं है।

❀ केवली भगवान सदा विज्ञानघन हो गये हैं, तो श्रुतज्ञानी धर्मात्मा भी अनुभवदशा के समय विज्ञानघन हो गये हैं।

❀ केवली भगवान तो श्रुतज्ञान की भूमिका को ही लाँघ गये हैं, इसलिये उन्हें नयपक्ष के विकल्पों का उत्थान नहीं रहा; श्रुतज्ञानी सम्यक्त्वी धर्मात्मा (भले वह स्त्री हो, नरक में हो; तिर्यंच हो या देव हो) भी अनुभव काल में श्रुतज्ञान सम्बन्धी समस्त नयपक्ष के विकल्पों से अतिक्रान्त हुए हैं, निर्विकल्प हुए हैं, इसलिये वे भी नयपक्ष के विकल्प से पार हैं।

❀ जिसप्रकार केवली भगवान साक्षात् ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी साधक भी अनुभवदशा के निर्विकल्प काल में ज्ञानस्वरूप शुद्ध आत्मा हुआ है; विकल्पों से पार हुआ है; उसकी अनुभूति में आत्मा की प्रसिद्धि हुई है; उसे भी 'समयसार' कहा है।

(२६) अहा! देखो सम्यक्त्वी की महिमा! केवली भगवान की महिमा तो अपार है ही, किन्तु साधक सन्त-मुनियों की दशा भी अद्भुत है! अविरत सम्यक्त्वी धर्मात्मा की दशा भी अचिन्तय महिमामय है; उसे जगत के साधारण जीव नहीं समझ सकते। अहा, जिनकी तुलना आचार्यदेव ने केवलज्ञानी परमात्मा के साथ की है, उनकी अंतरदशा की महिमा का तो कहना ही क्या है!

(२७) अनुभवदशा में धर्मात्मा अपने को चैतन्यस्वभावरूप ही अनुभव करते हैं। समस्त विभाव भावों को अपने स्वभाव से भिन्न करके, वे चैतन्यस्वभाव में एकतारूप से ही परिणमित होते हैं। ऐसा अनुभव ही सम्यग्दर्शन है, वही अपूर्व धर्म है; उसमें अतीन्द्रिय शांति एवं आनन्द की तरंगें उल्लसित होती हैं। भाई! यही सच्चा कर्तव्य है। चैतन्य भण्डार तुझमें ही भरा है; उसमें अंतर्मुख हो, तो तुझे स्वयमेव अपने आत्मा से ही ऐसा अनुभव (विकल्पों का अवलम्बन लिये बिना ही) होगा।

(२८) ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानकर उसका अनुभव करनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव कैसा है, तथा उस अनुभव की रीति क्या है, वह आचार्यदेव यहाँ १४४वीं गाथा में समझाते हैं। प्रथम तो आत्मार्थी बनकर ज्ञान में निर्णय करना चाहिये कि मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ; समस्त परद्रव्यों और परभावों से अत्यन्त भिन्न ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ। अनेकानेक प्रकार से अनुभव सहित, युक्ति आदि के द्वारा समस्त पुद्गलों से अत्यन्त भिन्न आत्मा आचार्यदेव ने बतलाया है; तदनुसार अपने ज्ञान में दृढ़ निर्णय करना चाहिये। राग के ओर की शक्तिवाला नहीं किन्तु ज्ञानस्वभाव के ओर की शक्तिवाला निर्णय!

(२९) ऐसे निर्णय के बल से अंतर में अभ्यास करते-करते, मति-श्रुतज्ञान को स्वोन्मुख करने पर आत्मानुभव होता है। स्वसन्मुख होकर ऐसा अनुभव करनेवाला जीव नयपक्ष के विकल्पों से खण्डित नहीं होता। अनुभव के पश्चात् अस्थिरता के विकल्प उठें, उनमें भी उसे एकत्वबुद्धि नहीं होती, इसलिये उसकी स्वभावदृष्टि विकल्पों से खण्डित नहीं होती। इसप्रकार निर्विकल्प विज्ञानघन होकर शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है, वह 'समयसार' है।

(३०) प्रथम क्या करें? धर्मी होने के लिये, आत्मा का अनुभव करने के लिये, सम्यग्दर्शन के लिये प्रथम क्या करना चाहिये? उसकी यह बात है। प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करना चाहिये। देखो, इस निर्णय में श्रुतज्ञान का अवलम्बन कहा

है; राग का अवलम्बन नहीं है; राग होने पर भी उसका अवलम्बन नहीं है; उस पर भार नहीं है; ज्ञान पर ही भार दिया है।

(३१) **श्रुतज्ञान के अवलम्बन द्वारा क्या निर्णय करना चाहिये? कि मेरा आत्मा ज्ञानस्वभावी ही है; अन्य कोई भाव, सो मैं नहीं हूँ, ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ—ऐसा निर्णय करना चाहिये।** देखो, श्रुतज्ञान ऐसे स्वभाव का निर्णय कराना चाहता है। वीतरागमार्ग में संतों ने ऐसा निर्णय किया है और उनके कहे हुए श्रुत में भी ऐसा ही निर्णय करने को कहा है। ऐसे निर्णय के बिना तो वीतरागी संतों की या उन संतों के कहे हुए श्रुत की भी सच्ची पहिचान नहीं होती।

(३२) 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा यथार्थरूप से अर्थात् ज्ञानरूप होकर जो निर्णय करे, उसकी रुचि राग से तथा पर से उठ जाती है अर्थात् उनमें एकत्वबुद्धि नहीं रहती; उनसे पृथक् होकर वह ज्ञानस्वभावोन्मुख होता है। ऐसा निर्णय ही मोक्षमार्ग का प्रथम कर्तव्य है।

(३३) यहाँ एकदम अंतर्मुख होने की बात है, इसलिये मात्र 'अस्तिस्वभाव' की बात ली है; 'ज्ञानस्वभाव सो मैं'—इसप्रकार स्वभाव की अस्ति में ढलने से 'रागादि सो मैं नहीं हूँ'—ऐसी विभाव की नास्ति उसमें आ जाती है; किन्तु उपयोग का लक्ष्य तो उस समय स्वभाव की अस्ति पर ही है।

(३४) 'ज्ञानस्वभाव सो मैं' ऐसे निर्णय में तो बहुत बल है, उस अपूर्व निर्णय का बल प्रतिक्षण मिथ्यात्व को तोड़ता जाता है और राग को मन्द करता जाता है।

(३५) **भाई, यदि तुझे शांति की आवश्यकता हो, सम्यग्दर्शन चाहता हो, मोक्षमार्गी बनना हो, तो अन्य सब बातों को एक ओर रखकर अपने उपयोग में ऐसा निर्णय कर कि ज्ञान—स्वभावी आत्मा मैं ही हूँ। ऐसे निर्णय के बल से तेरा ज्ञान, ज्ञानस्वभाव में ही एकाग्र होगा और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार मोक्षमार्ग नहीं होता।**

(३६) जिसने ज्ञानस्वभाव का निर्णय किया, उसके अभिप्राय में इतनी तो दृढ़ता हो गई है कि अब अपने हित के लिये मुझे इस ज्ञानस्वभाव का ही अवलम्बन करना है, इसके सिवा राग के किसी भी अंश का अवलम्बन नहीं है। उसके निर्णय की ऐसी दृढ़ता उसे परावलम्बन से विमुख करके स्वभाव की ओर ले जाती है। यही मोक्षमार्ग की रीति है।

(३७) 'मैं ज्ञानस्वभाव हूँ'—ऐसा निर्णय किया, इसलिये अब अपनी शांति के लिये मुझे

इस ज्ञान की ही सेवा करनी होगी। अभी तक ज्ञानस्वभाव के निर्णय बिना परभावों को हितरूप जानकर उनकी सेवा की, किन्तु अब उनकी सेवा और आदर छोड़कर ज्ञानस्वभाव का ही आदर किया, ज्ञानस्वभावोन्मुख होकर उसकी सेवा करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है।

(३८) जब तक ज्ञानस्वभाव का निर्णय नहीं था, तब तक मति-श्रुतज्ञान उस स्वभाव की ओर नहीं किन्तु इन्द्रियों तथा मन की ओर ही ढलते थे; इसलिये उस ज्ञान में आत्मा की प्रसिद्धि नहीं होती थी, किन्तु इन्द्रियाँ तथा मन के अवलम्बन से एकांत पर की ही प्रसिद्धि होती थी; वे ज्ञान अपनी ज्ञान मर्यादा को छोड़कर बाह्य में जाते थे—रागादि में एकत्वरूप अज्ञानभाव से वर्तते थे, इसलिये उनमें अपनी मर्यादा नहीं रहती थी। अब ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके, उसकी अचिन्त्य महिमा लाकर वे मति-श्रुतज्ञान स्वसन्मुख होते हैं; इन्द्रियों तथा मन के अवलम्बन से विमुख होकर, पर की ओर से उपयोग को हटाकर ज्ञान को अपनी मर्यादा में लाते हैं, इसलिये स्वोन्मुख होकर आत्मा को सम्यक्रूप से प्रसिद्ध करते हैं। इसका नाम ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; **इसी का नाम धर्म है; इसमें अपूर्व आत्मशांति है और यही मोक्ष का उपाय है।**

(३९) ज्ञानी की मर्यादा यह है कि अपने स्वभाव में एकाग्र होकर रहे। एक सूक्ष्म विकल्प उठे, वह भी ज्ञान की मर्यादा से बाहर है। ज्ञान की मर्यादा में एक सूक्ष्म विकल्प का भी प्रवेश नहीं है। जहाँ ऐसा निर्णय भी न करे और विकल्प से-राग से लाभ माने तो वह अभी सम्यग्दर्शन के आँगन में भी नहीं आया है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन के आँगन में आया हुआ जीव किसप्रकार अंतर स्वभाव में ढलता है, उसकी बात है।

(४०) यह बात किसके अंतर में उतरती है?—कि जिसके अंतर में धर्म की जिज्ञासा जागृत हुई हो, वह जिज्ञासु जीव अपने हित के लिये यह बात अंतर में उतारकर ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करता है। जगत में किन्हीं पदार्थों का कर्ता मैं नहीं हूँ, उनसे तो मैं पृथक् हूँ—ऐसा समझकर पर की ओर का उत्साह जिसका कम हो गया है तथा राग की वृत्तियों में भी मुझे आकुलता का ही वेदन और अशांति है, ज्ञान के वेदन में ही शांति है—ऐसा निर्णय करके, राग की ओर का उत्साह भी कम हो गया है और ज्ञानस्वभाव के ओर की बाढ़ आई है—ऐसे जीव के अंतर में यह बात उतर जाती है अर्थात् उसे शुद्धात्मा की अनुभूति होती है।

(४१) चैतन्यस्वभाव का उत्साह छोड़कर राग का तथा पर के कार्यों का उत्साह करे, वह तो संसार में भटकने का और दु:ख का कारण है।

(४२) भाई, परवस्तु कहाँ ऐसी अपूर्ण है कि वह तेरी आशा करे? और तेरा आत्मा भी कहाँ ऐसा अधूरा है, जो वह दूसरों की आशा रखेगा? इसलिये अपनी वृत्ति को पर से विमुख करके स्वोन्मुख कर। **परोन्मुखता में अशांति है, स्वोन्मुखता में शांति है। शांति कहो या धर्म कहो – उसकी यह एक ही रीति है।**

(४३) आत्मशांति के अनुभव की इस रीति में कहीं राग का प्रवेश नहीं है। पहले या बाद में (चारित्र दोष से) राग होता अवश्य है, किंतु वह कहीं धर्म की रीति से सहायरूप नहीं होता। शास्त्र की भाषा में कहें तो निश्चय के साथ व्यवहार हो भले, किंतु वह व्यवहार, निश्चय को सहायाक नहीं हैं तथा व्यवहार करते-करते उसके अवलम्बन से निश्चय की प्राप्ति होगी – ऐसा भी नहीं है। **भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही धर्म होता है-यह एक अबाधित नियम है।-'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो' (देखो, समयसार गाथा-११)**

(४४) **चैतन्य में अद्भुत आनन्दरस भरा है; वैसा आनंद रस के जगत के अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं है। चैतन्य का निर्णय करके उसके आनन्दरस में लीन होने पर जगत के समस्त पदार्थों में से रस उड़ जाता है। जिसे जगत के पदार्थों में रुचि हो, उनमें सुख भासित हो, वह जीव चैतन्यरस की ओर क्यों ढलेगा?**

(४५) **जिसे चैतन्य का रस हो, उसके अंतर में चैतन्य के शांत जल की तरंगें उछलती हैं।** जिसप्रकार नारियल में भरा हुआ पानी तो छाल, नरेली और गोला—इन तीनों के भीतर है, तथापि ऊपर के तीनों आवरणों से पार ऐसे पानी का निर्णय नारियल को हिलाने से हो जाता है कि इसमें पानी भरा है। **उसीप्रकार आत्मा चैतन्यरूपी शांत जल से भरा है, चैतन्य का रस जागृत होने पर अंतर से शांति की तरंगें उछलती हैं।** यह जड़ शरीर, कर्म और रागादि भाव—इन तीनों आवरणों को छेदकर जिज्ञासु जीव उनसे पार ऐसे शांत रस का निर्णय अपने वीर्य को उल्लसित करके कर लेता है **कि मेरे आत्मा में ही अतीन्द्रिय आनन्दरस भरा है। उस आनन्दरस का अनुभव करते हुए उसे लगता है जैसे आत्मा समस्त विश्व के ऊपर तैर रहा हो! इसप्रकार अनुभव में भगवान आत्मा प्रसिद्ध होता है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; और वही 'समय का सार' है।**

सुख-शांति का धाम

चैतन्यनिधान आत्मा

आषाढ़ कृष्णा १२ के दिन पूज्य गुरुदेव का प्रवचन

इस ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व में अनंत शक्तियाँ विद्यमान हैं; उनका अनुभव करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। उस आत्मतत्त्व का दोहन करके यहाँ आचार्यदेव ने उसकी ४७ शक्तियों का अद्‌भुत वर्णन किया है।

शरीर तथा विकार से भिन्न आत्मतत्त्व क्या वस्तु है ? उसका यथार्थ भेदज्ञान करना जीव ने अनादिकाल में नहीं जान पाया। प्रथम तो, आत्मा के अतिरिक्त अनंत परपदार्थ इस आत्मा से अत्यंत भिन्न हैं, मेरा आत्मा उस किसी भी पदार्थ के कारणरूप नहीं है, और न वह कोई भी पदार्थ मेरे कारणरूप है;—ऐसा निर्णय कर लिया, इसलिये समस्त परपदार्थों से उठकर दृष्टि को एकमात्र स्व में ही आना पड़ेगा। जिसप्रकार बीच समुद्र में चलते हुए जहाज का पंछी उड़-उड़कर अंत में तो जहाज पर ही आयेगा, दूसरा तो कोई उपाय है ही नहीं। उसीप्रकार पर से भिन्न आत्मा का निर्णय करनेवाले जीव को इस संसार समुद्र में अन्यत्र कहीं शरण भासित नहीं होती; एक अपना आत्मा ही शरणभूत है, इसलिये उसके श्रद्धा-ज्ञान को पुनः-पुनः एक आत्मा का ही अवलम्बन करना होगा।

आत्मा में भी जो रागादि आस्रवभाव हैं, वे आत्मा के चिदानन्दस्वभाव से भिन्न हैं। आस्रव, आत्मा की शक्ति में नहीं हैं। शुभाशुभभाव, चैतन्यशक्ति का स्पर्श नहीं करते। ऐसे चैतन्यतत्त्व की शक्तियों का वर्णन करना है। प्रथम तो जिसकी शक्तियों का ज्ञान करना है, उसे पर से तथा विकार से भिन्न जानना चाहिये; क्योंकि चैतन्य के सर्वगुण चैतन्य में ही हैं:—

ज्यां चेतन त्यां सर्व गुण, केवली बोले अेम,
प्रगट अनुभवो आत्मा, निर्मल करो सप्रेम रे,
चैतन्य प्रभु! प्रभुता तारी चैतन्यधाम मां....

भगवान सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं कि हे जीव! तेरे गुण, तेरी शक्तियाँ तेरे चैतन्यधाम में ही हैं, तेरा कोई गुण बाह्य में नहीं है। चैतन्य की अशांति भी बाह्य में नहीं है और चैतन्य की शांति भी बाह्य में नहीं है; अंतर में शांतिस्वभाव विद्यमान है, उसी में से शांति प्रगट होती है। देखो, इस शांति में नौ तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

जिसमें त्रिकाल शांति भरी है तथा जिसके आश्रय से शांति प्रगट होती है, वह जीवतत्त्व है। जीव को भूलकर अजीव के आश्रय से शांति प्राप्त करना चाहता है, वह अज्ञान है—भ्रम है। आस्रव-बंध तथा पुण्य-पाप के परिणाम आकुलतारूप हैं, उन चारों का समावेश 'अशांति' में होता है। चिदानन्दस्वभाव की ओर ढलने से जो अंशतः शांति प्रगट हुई तथा अशांति दूर हुई और प्रतिक्षण उस शांति में वृद्धि होती रहती है। उसमें संवर-निर्जरातत्त्व आ जाता है और अशांति का सर्वथा अभाव होकर संपूर्ण शांति प्रगट हो, उसका नाम मोक्ष है। इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य साधन से शांति लेना चाहे तो वह कभी मिल नहीं सकती। कहाँ से मिलेगी? क्योंकि 'जहाँ चेतन वहाँ सर्व गुण।' पर में आत्मा की शांति है ही नहीं तो वहाँ से वह कैसे प्राप्त होगी? चैतन्य के सर्व गुण शांति-सुख-आनन्द-प्रभुता आदि चैतन्य में ही हैं; वहाँ ढूँढ़े तभी वे मिल सकते हैं।

भाई! तेरी शांति का साधन कौन? तेरा चैतन्यस्वभाव ही तेरी शांति का साधन है। यह हाथ-पाँव-आँख-कान, तेरे अवयव नहीं हैं और न वे तेरे सुख के साधन हैं। सिद्ध भगवन्तों के हाथ-पाँव नहीं हैं तो क्या वे दुःखी हैं?—नहीं; वे तो बिना हाथ-पैरों के भी सुखी हैं; क्योंकि हाथ-पैर कहीं आत्मा के सुख का साधन नहीं हैं।

सिद्ध भगवान की भाँति निगोदिया जीव के भी हाथ-पैर नहीं हैं; किंतु क्या वह हाथ-पैर न होने के कारण दुःखी है?—नहीं, वह अपने मोहभाव से ही दुःखी है। उसीप्रकार किसी जीव के (कुष्ठ रोगी आदि) हाथ-पैर आदि अवयव टूट गये हों, तो क्या वह अवयवों के टूट जाने से दुःखी है?—नहीं, 'यह हाथ पैर मेरे अवयव थे तथा मेरे सुख के साधन थे'—ऐसी पर के साधनपने की जो मिथ्या मान्यता कर रखी है, उसी के कारण वह दुःखी है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा को हाथ-पैर आदि समस्त अवयव हों, तथापि उन अवयवों को वे अपना स्वरूप नहीं मानते, उन्हें अपना साधन नहीं मानते; उनमें से साधनपने की दृष्टि छूट गई है, इसलिये उनकी दृष्टि में (श्रद्धा में) तो संन्यास ही हो गया है। वे जानते हैं कि मेरे अवयव तो ज्ञानादि अनंत गुण ही हैं और वे ही मेरे सुख के साधन हैं।

ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहिचानने के लिये यहाँ उसकी शक्तियों का वर्णन करते हैं। समयसार में आत्मा को 'ज्ञानस्वरूप' कहकर समझाया है; यद्यपि ज्ञान के साथ उसके अविनाभावी दूसरे अनंत धर्म भी हैं, इसलिये ज्ञानमात्र आत्मा को 'अनेकान्तपना' स्वयमेव प्रकाशित होता है। यह बात सुनकर जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि—प्रभो! अनंत-धर्मात्मक आत्मा को

'ज्ञानमात्रपना' किसप्रकार है ? जो जीव आत्मा को लक्ष में लेकर उसका अनुभव करना चाहता है, उसे प्रसिद्धरूप ज्ञानलक्षण द्वारा आत्मा की प्रसिद्धि कराई जाती है। वास्तव में कहीं लक्षण और लक्ष्य भिन्न नहीं हैं। ज्ञान अंतरोन्मुख हुआ, वहाँ उसने स्वयं लक्षणरूप होकर लक्ष्य को प्रसिद्ध किया। जो जीव ऐसे आत्मा का अनुभव करता है, उससे तो लक्ष्य-लक्षण के भेद करके कहने की आवश्यकता नहीं होती; किन्तु जो अनुभव करना चाहता है, उसे 'ज्ञानमात्र आत्मा'—ऐसा कहकर भगवान आत्मा की प्रसिद्धि कराते हैं। आत्मा अनंत गुणों का निधान है, उस निधि को अंतर में देखकर ज्ञानी उसका उपभोग करते हैं। जिसप्रकार कोई मनुष्य विशाल निधि प्राप्त करके फिर एकान्त में उसका उपभोग करता है, उसीप्रकार धर्मात्मा अपने अंतर में चैतन्यनिधान प्राप्त करके फिर एकांत में अर्थात् अंतर्मुख होकर आनन्दपूर्वक उसका उपभोग करते हैं—बारम्बार अनुभवन करते हैं।

—ऐसे आनन्दानुभव की जिस जीव को जिज्ञासा जागृत हुई है, वह जीव पात्र होकर पूछता है कि प्रभो! आत्मा में अनंत धर्म हैं, तथापि उसे ज्ञानमात्र ही क्यों कहते हैं ? ऐसे जिज्ञासु शिष्य को समझाने के लिये आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, सुन! आत्मा की जो ज्ञप्ति क्रिया होती है, उसमें अनंत धर्मों का समुदाय एक साथ ही परिणमित होता है; अकेला ज्ञान भिन्न परिणमित नहीं होता, किंतु उस ज्ञान के साथ ही साथ आनंद, श्रद्धा, जीवत्व आदि अनंत गुणों का परिणमन एक साथ ही है। एक ज्ञानगुण को भिन्न लक्ष में लेकर धर्मी जीव परिणमित नहीं होता किंतु ज्ञान के साथ रहनेवाले अनंत धर्मों को अभेदरूप से लक्ष में लेकर धर्मी जीव एक ज्ञप्तिमात्र भावरूप से परिणमित होता है। अनंत धर्मों का अपने में समावेश करके एक ज्ञप्ति क्रियारूप परिणमित होने के कारण आत्मा को स्वयमेव ज्ञानमात्रपना है। ऐसी ज्ञान क्रियारूप से आत्मा प्रकाशित होता है। प्रारम्भ में ही 'नमः समयसाराय' द्वारा शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए कहा था कि वह शुद्धात्मा स्वानुभूतिरूपप क्रिया द्वारा प्रकाशमान है; राग द्वारा अथवा वाणी द्वारा आत्मा प्रकाशमान नहीं होता—प्रसिद्ध नहीं होता, किंतु अंतर्मुख स्वानुभूति द्वारा अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया द्वारा ही भगवान आत्मा प्रकाशमान होता है, प्रसिद्ध होता है, अनुभव में आता है।

आत्मा की ज्ञप्तिक्रिया में स्वयमेव अनंत शक्तियाँ उछलती हैं; आत्मा के अनुभव में एक साथ अनंत शक्तियाँ परिणमित होती हैं—निर्मलरूप से उछलती हैं। कैसी-कैसी शक्तियाँ उछलती हैं, उनका वर्णन आगे करेंगे। ❊❊

शक्ति की प्रतीतिपूर्वक भक्ति

(श्री 'ऋषभजिन स्तोत्र' के प्रवचन से)

वीर सं० २४८६, भाद्रपद कृष्णा १३

संतों को इस संसार में भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ही प्रियतम है... अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। संत धर्मात्मा को प्रिय में प्रिय कुछ हो तो अंतर में अपना चिदानंदस्वभाव प्रियतम है तथा बाह्य में सर्वज्ञ परमात्मा उसे प्रियतम हैं। इसलिये ऐसे परमात्मा के प्रति उसे भक्ति का भाव उल्लसित हो उठता है। आहा! ऐसा चैतन्यस्वभाव! ऐसा ज्ञायक बिम्बस्वभाव! इसप्रकार चिदानंदस्वभाव के बहुमानपूर्वक जो भगवान को देखता है, वह धन्य है। भगवान के प्रति ऐसी भक्तिवाले आराधक धर्मात्मा का पुण्य भी लोकोत्तर होता है; उनके वचन में मानों अमृत झरना हो! लोग आकर उनसे कहते हैं कि आप कुछ बोलिये! कोई स्तुति पढ़िये, कोई कथा-कहानी सुनाइये, इसप्रकार हे भगवान! जिसने आपकी आराधना की, उस जीव की दूसरों के द्वारा आराधना की जाती है।

ऋषभदेव भगवान की स्तुति करते हुए पहली गाथा में कहा है कि—केवलज्ञानादि गुणों के निधान हे नाभिनन्दन आदिनाथ! आपकी जय हो। अब दूसरी गाथा में कहते हैं कि हे नाथ! आपके दर्शन एवं ध्यान करनेवाला धन्य है।

प्रश्न—भगवान की भक्ति का भाव तो शुभराग है, फिर उसका उपदेश क्यों देते हैं ?

उत्तर—भाई, अंतर में जहाँ चिदानंदस्वभाव का भान हुआ और उसकी पूर्णानन्ददशा प्राप्त करने की भावना वर्तती है वहाँ, ऐसी पूर्णानन्ददशा को प्राप्त परमात्मा के प्रति भक्ति-बहुमान का उल्लास आये बिना नहीं रहता। यद्यपि वह शुभराग है, किंतु साधक की भूमिका में ऐसा भाव होता है। उस राग की सीमा कहाँ तक है—उसका साधक को भलीभाँति विवेक वर्तता है। वास्तव में तो सर्वज्ञ की स्तुति के बहाने वह अपने चिदानंदस्वभाव की भावना पुष्ट करता है। चैतन्यस्वभाव की भावना में जितनी वीतरागी शुद्धता हुई, उतनी परमार्थ स्तुति है; बीच में राग रह गया, वहाँ बाह्य में परमात्मा की ओर लक्ष्य जाता है और उनका बहुमान करता है, वह व्यवहारस्तुति है। मुनि प्रतिक्षण निर्विकल्प होकर चिदानंद पिण्ड का पृथक् अनुभव करते हैं; ऐसे अनुभव में झूलते हुए मुनियों को भी छठवें गुणस्थान में विकल्प उठने पर सर्वज्ञ परमात्मा के प्रति भक्ति का उल्लास आता है। बड़े-

बड़े आचार्यों ने भी सिद्धभक्ति आदि की रचना की है। अपने चैतन्य परमेश्वर को साथ ही साथ रखकर यह स्तुति होती है।

हे भगवान, सर्वज्ञ परमात्मा! रत्न-मणियों की प्रभा से विचित्र ऐसे दिव्य सिंहासन पर अधर में विराजमान—आपको जो देखता है, वह धन्य है। अंतर में तो सर्वज्ञस्वभावी अपने आत्मा को देखता है और बाह्य में सर्वज्ञ परमात्मा के दर्शन करता है-उसे धन्य है! अहा! ऐसा चैतन्य स्वभाव! ऐसा ज्ञायक बिम्ब स्वभाव! इसप्रकार चिदानंदस्वभाव के बहुमानपूर्वक जो भगवान को जो देखता है, उसे धन्य है। साक्षात् ज्ञानमूर्ति भगवान को जो देखता है, उनका स्तवन करताहै, जपता है, ध्याता है, वह धन्य है।

जगत के मोही जीव स्त्री के रूपादि को देखते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, उसे जपते हैं तथा ध्याते हैं; परन्तु उसमें तो पाप का बंधन है, भयंकर वेदना है; परन्तु रागरहित ऐसे हे वीतरागी परमात्मा! आपको देखने से, स्तवन करने से, जपने से, ध्याने से चैतन्यस्वभाव की महिमा जागृत होती है; उसमें शांति का अनुभव होता है; इसलिये जो जीव आपको देखता है—ध्याता है, वह धन्य है। देखो, इसमें भगवान का स्वरूप लक्ष में लेकर अर्थात् भगवान समान आत्मा के स्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी स्तुति होती है। जगत के बड़े-बड़े इन्द्र-चक्रवर्ती भी अंतर में चैतन्य भगवान को देखते हैं-ध्याते हैं और बाह्य में सर्वज्ञ परमात्मा को देखते-ध्याते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य जैसे महान संत भी भक्तिपूर्वक अरिहंत तथा सिद्धों को अपने आँगन में बुलाते हैं कि हे भगवन्त! मैं सम्यक् श्रद्धाज्ञानपूर्वक वीतरागी उपशमभाव को अंगीकार करता हूँ; मोक्ष लक्ष्मी के स्वयंवर समान जो यह वीतरागी शांत उपशमभावरूप चारित्र का अवसर है, उसमें हे भगवन्त, मैं आपको परम भक्तिपूर्वक स्मरण करके आमंत्रण देता हूँ, नाथ! मेरे आँगन में पधारो!

संतों को इस संसार में भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ही प्रियतम हैं, अन्य कुछ भी प्रिय नहीं है। ('प्रीतम' शब्द प्रियतम का अपभ्रंश है।) संत-धर्मात्मा को कुछ प्रियतम हो तो, अंतर में अपना चिदानंदस्वभाव है और बाह्य में सर्वज्ञ परमात्मा हैं। उन्हें राग की प्रीति नहीं है, पुण्य की और पुण्य के फल की प्रीति नहीं है। भगवान की भक्ति में भले ही पुण्यबंध होता है, किंतु धर्मात्मा को उस पुण्य की या उसके फल की प्रीति नहीं है। एक चिदानंदस्वभाव की तथा उस स्वभाव के प्रतिबिम्ब

–स्वरूप परमात्मा की ही प्रीति है; वही उनकी सबसे प्रिय वस्तु है; इसलिये ऐसे परमात्मा के प्रति भक्ति का भाव उल्लसित हो जाता है।

हे परमात्मा! जो जीव भक्ति से पुष्पों द्वारा आपकी पूजा करता है, वह जीव उसके फलस्वरूप स्वर्ग में इन्द्राणी के नेत्ररूपी पुष्पों द्वारा पुजता है। देखो, इसमें ऐसा नहीं कहा कि जो पुण्य को पूजता है, वह इन्द्राणी द्वारा पुजता है, किन्तु ऐसा कहा है कि जो भगवान को पूजता है, वह इन्द्राणी द्वारा पुजता है। भगवान को पूजनेवाला पुण्य का आदर नहीं करता। जो पुण्य का आदर करता है, वह इन्द्राणी द्वारा नहीं पुजता किंतु वह तो मिथ्यात्व से घिरकर संसार में भटकता है। हे तरनतारन जिननाथ! अंतरंग उल्लासपूर्वक जिसे आपके प्रति भक्ति भाव उल्लसित होता है, उसे ऐसे सातिशय पुण्य का बंध होता है कि तीर्थंकर तथा गणधरादि पद प्राप्त करके वह जीव इन्द्रों द्वारा पुजता है। आराधक धर्मात्मा का पुण्य भी लोकोत्तर होता है। उनके वचनों में मानों अमृत झरता है! लोग आकर उनसे कहते हैं कि आप कुछ बोलिये! कोई स्तुति पढ़िये, कोई कथा–कहानी सुनाइये! इसप्रकार हे भगवान! जिसने आपकी आराधना की है, वह जीव दूसरों के द्वारा आराधित होता है, अर्थात् आपको पहिचानकर जो आपके दर्शन–स्तवन–ध्यान करता है, वह भी आप जैसा ही हो जाता है और दूसरे जीव भक्तिपूर्वक उसकी आराधना करते हैं।

तीसरे श्लोक में कहते हैं कि—हे नाथ! अंतर के निर्विकल्प अनुभव के आनंद की तो बात ही क्या!! किंतु विकल्पदशा में आपकी आँखों से देखने पर भी हमें ऐसा हर्ष होता है कि वह तीन लोक में नहीं समाता। अंतर में लीन होकर जब हम सर्वज्ञ होंगे, तब तो हमारा ज्ञान तीन लोक में फैल जायेगा—तीन लोक को जान लेगा; और इस समय आँखों से सर्वज्ञ को देखते हुए हमारा हर्ष तीन लोक में नहीं समाता। प्रभो! उपयोग को अंतरोन्मुख करके चैतन्यचक्षु से जब चिदानंद परमात्मा को देखेंगे, उस समय के परम अतीन्द्रिय आनंद की क्या बात!!

देखो, इसमें सविकल्प और निर्विकल्प दोनों भक्ति की बात कही और दोनों का भिन्न–भिन्न फल भी बतलाया। परमात्मा की सविकल्प भक्ति के फल में तो महान हर्ष कहा, और निर्विकल्प भक्ति में वचनातीत अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति बतलाई। स्वरूप में स्थिर होकर केवलज्ञान प्राप्त करेंगे, तब अनंत अपरिमित आनंद की प्राप्ति होगी;—ऐसा कहकर उसमें भक्ति का विकल्प तोड़कर स्वरूप में स्थिर होने की भावना भी की।●●

व्यवहार का उपहास!

[नियमसार कलश १५५-५६-५७ के प्रवचनों से]

आत्मा के चिदानंदस्वभाव की ओर उन्मुख होकर उसका अवलोकन, सो परमार्थ आलोचना है। ऐसी परमार्थ आलोचना का वर्णन करके फिर व्यवहार का उपहास करते हुए टीकाकार मुनिराज श्री नियमसार के १५५ वें श्लोक में कहते हैं कि—

आरातीये परमपुरुषे को विधिः को निषेधः

अहा, चिदानंदस्वभावी परम पुरुष (-आत्मा) जहाँ निकट है, वहाँ विधि क्या और निषेध क्या? परिणति जहाँ अंतरोन्मुख होकर परमस्वभाव में ढल गई, वहाँ व्यवहार के विकल्प कैसे? 'यह विधि और यह निषेध, इसे ग्रहण करना और इसे छोड़ना'—ऐसे विकल्पोंरूप जो व्यवहार, उसका उपहास (-हँसी, तिरस्कार) करते हुए मुनिराज कहते हैं कि इस निकट परमपुरुष में व्यवहार कैसा? विधि-निषेध के विकल्प कैसे? जहाँ परिणति चैतन्यस्वभावोन्मुख हुई, वहाँ व्यवहार के सर्व विकल्प कहीं दूर भाग जाते हैं; इसलिये मुनिराज कहते हैं कि अरे व्यवहार! हमारे चिदानंदस्वभाव में तेरा स्थान कैसा? हमारा मोक्षमार्ग तुझसे उपेक्षित है, परम निरपेक्ष रत्नत्रय में व्यवहार की अपेक्षा नहीं है, व्यवहार का आश्रय नहीं है। 'निश्चय नयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करे निर्वाण की'—यही बात यहाँ अन्य प्रकार से बतलाई है।

'हमारे घर में तेरा प्रवेश नहीं है'—ऐसा कहकर जिसप्रकार कोई सज्जन किसी दुष्ट पुरुष का तिरस्कार करता है; उसीप्रकार यहाँ 'हमारे चिदानंदस्वभाव में तेरा प्रवेश नहीं है'—ऐसा कहकर संत मुनिराज ने विभावरूप व्यवहार का तिरस्कार किया है। जिसप्रकार वीर पुरुष के सन्मुख नपुंसक मनुष्य नहीं टिक सकता, उसीप्रकार जहाँ चिदानंदस्वभाव का अवलम्बन लेनेवाला चैतन्य वीर जागृत हुआ, वहाँ पराश्रित व्यवहार नहीं टिक पाता; इसलिये मुनिराज कहते हैं कि अहा! ऐसा परमस्वभाव जहाँ हमारे चित्तकमल में स्पष्ट हुआ... और उसके अनुभव में परिणति एकाग्र हुई, वहाँ विधि-निषेध कैसे?—वहाँ व्यवहार के विकल्प नहीं हैं, वहाँ तो अंतरंग आत्मपरिणति आनंद में ही मग्न है।

जिसकी परिणति आनंदमय निजतत्त्व में निमग्न हुई, उस जीव को परमपुरुष परमात्मा निकट है और विधि-निषेधा के विकल्प दूर-दूर हैं; वह जीव स्वभावसुखरूपी सुधासागर में डूबा

हुआ है... दु:खमय संसार से पार होकर सुखसागर में डुबकियाँ लगा रहा है। धर्मात्मा कहते हैं कि अहा! ऐसे अद्‌भुत परमतत्त्व को मैं सदा अति अपूर्व रीति से भाता हूँ।

संयम सुधासागर को आत्मभावना से भाता हूँ।

मोक्षमार्ग के आश्रय से

कभी बंधन नहीं होता

पुण्य-पाप अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि—अशुभकर्म अथवा शुभकर्म दोनों जीव को संसार का कारण हैं, इसलिये उनमें अंतर नहीं है। अंतर के बिना ही वे दोनों निषिद्ध हैं।

वहाँ शिष्य पूछता है कि प्रभो! कोई कर्म तो मोक्षमार्ग के आश्रित है तथा कोई कर्म बंधमार्ग के आश्रित है, तो उन दोनों का निषेध किसलिये कहते हैं? अथवा उन दोनों को समान किसलिये कहते हैं? मोक्षमार्ग में व प्रवर्तमान शुभकर्म को आदरणीय कहो न?

आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि—सुन भाई! मोक्षमार्ग में प्रवर्तमान शुभकर्म को तू मोक्षमार्ग के आश्रित मानता है, यह तेरी भूल है; वह शुभकर्म भी बंधमार्ग के आश्रित ही है। केवल जीवमय ऐसा जो मोक्षमार्ग, उसके आश्रय से कोई भी कर्म नहीं बँधता। जो संसार में प्रवेश करानेवाला है, ऐसा कर्म मोक्षमार्ग के आश्रय से कैसे उत्पन्न होगा? नहीं हो सकता। वह कर्म तो बंधमार्ग के ही आश्रित है। मोक्षमार्ग और बंधमार्ग भिन्न हैं, यह बात सच है, किंतु उससे कहीं शुभ और अशुभकर्म का आश्रय भिन्न-भिन्न होना सिद्ध नहीं होता। शुभकर्म मोक्षमार्ग के आश्रित और अशुभकर्म बंधमार्ग के आश्रित—इसप्रकार शुभ-अशुभ के आश्रय की भिन्नता नहीं है, दोनों मात्र बंधमार्ग के ही आश्रित हैं, इसलिये दोनों एक ही हैं। मोक्षमार्ग के प्रवर्तमान जीव को शुभकर्म देखकर जो अज्ञानी, मोक्षमार्ग के यथार्थ स्वरूप को नहीं पहिचानता, उसे ऐसा लगता है कि यह शुभकर्म मोक्षमार्ग के आश्रय से बँधा है; परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, वह शुभकर्म भी बंधमार्ग के ही आश्रित है। यदि मोक्षमार्ग के आश्रित भी कर्म बँधता हो, तब तो कर्म से छूटने का कोई उपाय ही

नहीं रहा !—किंतु जिसप्रकार बंधमार्ग के आश्रय से कभी मुक्ति नहीं होती, उसीप्रकार मोक्षमार्ग के आश्रय से कभी बंधन नहीं होता। इसलिये बंधमार्ग के आश्रय से प्रवर्तमान ऐसा अशुभ या शुभ दोनों कर्म मोक्षार्थी को निषेधनीय हैं और जीव के आश्रय से प्रवर्तमान ऐसा मोक्षमार्ग कि जो कर्मबंध का कारण नहीं है किंतु मोक्ष का ही कारण है, वही आदरपूर्वक सेवन करने योग्य है।

(—समयसार गाथा १४५ के प्रवचन से)

तीन को जाने तो तीन को प्राप्त करे

(१) स्वभाव का सामर्थ्य,
(२) विभाव की विपरीतता और
(३) जड़ का पृथक्त्व
—इन तीनों को जो जीव भलीभाँति जान ले वह
(१) जड़ से भिन्न,
(२) विभाव से विमुख, तथा
(३) स्वभाव के सन्मुख हो जाता है।
— ऐसे तीन प्रकार होने पर जीव रत्नत्रय को प्राप्त करता है।

मोही में है मोहि सूझत नीके

केइ उदास रहें प्रभु कारन,
केइ कहीं उठि जाँहि कहींके।
केइ प्रणाम करें गढ़ि मूरति,
केइ पहार चढ़ें चढ़ि छींके॥
केइ कहें असमान के ऊपरि,
केइ कहें प्रभु हेठि जमीं के।
मेरो धनी नहिं दूर दिशांतर,
मोही में है मोहि सूझत नीके॥

(बंध द्वार-४७)

आत्मा को जानने के लिये अर्थात् भगवान की खोज करने के लिये कोई तो साधु-बाबा बन जाते हैं, कोई दूसरे क्षेत्रों की यात्रा करते हैं, कोई प्रतिमा बनाकर नमन-पूजन करते हैं, कोई छींके पर (डोली में) बैठकर पहाड़ चढ़ते हैं। कोई कहता है कि ईश्वर आकाश में है, कोई कहता है पाताल में हैं; परन्तु अनुभवी ज्ञानी कहते हैं कि मेरा प्रभु—मेरा आत्मा कहीं दूर देश में नहीं है; वह मुझमें ही है और बराबर मेरे अनुभव में आता है।

आत्मा स्वयं अपने में ही है और अंतर्दृष्टि से बराबर दृष्टिगोचर हो रहा है; इसके अतिरिक्त किसी बाह्य प्रयत्न से वह दृष्टिगोचर नहीं होता।—इस संबंध में श्री बनारसीदासजी ने उपरोक्त कवित्तों में कितना सुन्दर कथन किया है।

आत्मा को कहाँ ढूँढ़े ?

तोही में है तोहि सूझत नाँही

रे रुचिवंत पचारि कहे गुरु,
तू अपनों पद बूझत नाहीं।
खोजु हियें निज चेतन लक्षन,
है निज में निज गूझत नाहीं॥
शुद्ध सुछन्द सदा अति उज्जल,
माया के फन्द अरूझत नाहीं।
तेरो सरूप न दुन्दकी दोही में,
तोही में है तोहि सूझत नाहीं।

(—बंध द्वार-४७)

श्री गुरु सम्बोधन करके कहते हैं कि हे भव्य! तू अपने स्वरूप को पहिचानता नहीं है; अपने अंतर में चैतन्य-चिह्न को ढूँढ़! वह तुझमें ही है, तुझ से गुप्त नहीं है। तू शुद्ध, स्वाधीन और अत्यंत निर्विकार है; तेरी आत्मसत्ता में माया का प्रवेश नहीं है। तेरा स्वरूप भ्रमजाल या दुविधा से रहित है... वह तुझमें ही है, किन्तु तुझे सूझता नहीं है—दिखाई नहीं देता।

रेकार्डिंग रील प्रवचन प्रचार

आत्मज्ञ सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का प्रत्यक्ष श्रवण करना वह मुमुक्षुओं के लिये अत्यंत हितावह है और इसलिये सोनगढ़ आकर प्रत्यक्ष लाभ लेना चाहिये, किंतु ऐसा प्रत्यक्ष लाभ अनेक कारणवश जो मुमुक्षु न ले सकें, उनको लाभ मिल सके, इस हेतु को लक्ष में रखकर एक योजना विचारने में आयी है:—

पूज्य स्वामीजी के महत्त्वपूर्ण अनेक प्रवचनों के टेप रेकोर्डिंग रील उतारने में आयी हैं।

जिस गांव के मुमुक्षुओं को उसके श्रवण करने की भावना हों, वे अपने गाँव के मुमुक्षु मंडल के प्रमुख तथा सेक्रेटरी द्वारा हमें पत्र द्वारा लिखेंगे तो, वहाँ रेकोर्डिंग मशीन तथा रेकोर्डिंग रीलें लेकर इस कार्य के लिये नियुक्त किये गये श्री मधुकरजी को भेजेंगे और वहाँ अनुकूलतानुसार प्रवचन के रेकोर्डिंग रीलें वे सुनायेंगे। (हिन्दी व गुजराती भाषा में रीले हैं।)

इसके अलावा वे भाई भजन भी गा सकते हैं। तो कुछ समय भक्ति का कार्यक्रम भी रख सकते हैं। उपरांत बालकों को वे जैनधर्म का शिक्षण भी दे सकेंगे।

जिस जिस गाँव के मुमुक्षु श्री मधुकरजी को अपने यहाँ आने के लिये आमंत्रण देंगे, वहाँ वे जावेंगे, और इस बात की खबर प्रथम से ही दी जायेगी। रेल किराया गाड़ी या एस्टी का किराया आदि खर्च जिस जिस गाँव में मधुकरजी जावेंगे (वह खर्च) उस गाँव के मुमुक्षुओं को देना होगा। किसी प्रकार चन्द या भेंटस्वरूप कुछ देने का नहीं है।

पत्र व्यवहार का पता—
To, व्यवस्थापक, प्रचार विभाग,
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

सूचना—मशीन खर्च तथा वेतन खर्च बम्बई के एक उदार सद्गृहस्थ के द्वारा दिया गया है। जिस गाँव में इलेक्ट्रिसिटी होगी, वहीं उपरोक्त मशीन उपयोगी होगी।

नया प्रकाशन

जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग तीसरा

सेठी ग्रंथमाला से यह दूसरी आवृत्ति है। प्रश्नोत्तमाला भाग १-२-३ प्राय: बहुत जगह पाठशाला में चलती है प्रथम भाग तीसरी आवृत्ति है, सभी जिज्ञासुओं के लिये अति उपयोगी है बहुत जगह से माँग चालू है। तीसरा भाग पृष्ठ संख्या १४२ मूल्य ६५ नये पैसे पोस्टेज अलग। थोक लेने पर कमीशन देंगे। प्रथम भाग पृष्ठ संख्या १२४, दूसरा भाग पृष्ठ १३७, मूल्य ६० नये पैसे।

★

छहढाला (सस्ते में)

यह ग्रंथ हिन्दी में बहुत बार छप चुका है, रोचक ढंग से आत्महित का स्वरूप और गागर में सागर के समान जैनतत्त्वज्ञान इतना सुगम शैली से भरा है कि वर्तमान समाज में सब जगह जिज्ञासुओं को देख-देखकर बाँटने लायक है। ऐसी टीका आज तक पहले कभी नहीं छपी थी। पृष्ठ संख्या १६१, मूल्य ८१ नये पैसे। थोक लेने पर कमीशन देंगे।

★

नया प्रकाशन (हिन्दी)—

समयसार प्रवचन भाग १, पृष्ठ संख्या ४८८, मूल्य ४.००) अच्छी तरह संशोधित दूसरी आवृत्ति। श्री कानजी स्वामी द्वारा गाथा १ से १२ तक के प्रवचन।

★

नया प्रकाशन गुजराती—

श्री राजचन्द्रजी कृत 'अपूर्व अवसर' नामक काव्य के ऊपर श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का संग्रह। तीसरी आवृत्ति-पृष्ठ १५१, मूल्य ०-५०, पोस्टेज अलग।

मोक्षमार्गप्रकाशक (गुजराती में) चौथी आवृत्ति, पृष्ठ ३८०

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

पंचास्तिकाय	४ ॥)	ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	२ ॥)
मूल में भूल	।।।)	मोक्षशास्त्र बड़ी टीका सजिल्द	५)
श्री मुक्तिमार्ग	॥=)	सम्यग्दर्शन (दूसरी आवृत्ति)	१ ॥=
श्री अनुभवप्रकाश	॥)	द्वादशानुप्रेक्षा (स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा)	२)
श्री पंचमेरु आदि पूजासंग्रह	।।।)	जैन तीर्थ पूजा पाठ संग्रह कपड़े की जिल्द	१ ।=)
समयसार प्रवचन भाग २	५ ।)		
समयसार प्रवचन भाग ३	४ ॥)	भेदविज्ञानसार	२)
प्रवचनसार	५)	अध्यात्मपाठसंग्रह	५)
अष्टपाहुड़	३)	समाधितन्त्र	२ ।=
चिद्विलास	१=)	निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=)
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१ ।=)	स्तोत्रत्रयी	॥)
द्वितीय भाग	२)	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	=)
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला प्र०	॥–)	'आत्मधर्म मासिक' लवाजम–	३)
द्वितीय भाग	॥–)	आत्मधर्म फाइलें १–३–५–६–७–८–१०–११–१२–१३ वर्ष	३ ।।।)
तृतीय भाग	॥–)		
जैन बालपोथी	।)	शासन प्रभाव	=)

[डाकव्यय अतिरिक्त]

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।